- प्रथम अध्याय -

- प्रगतिवाद की पृष्ठभूमि -

प्रथम अध्याय

प्रगतिवाद की पृष्ठभूमि

हमारे लुघ-शोध-प्रबंध का शीर्षक "भैरवप्रसाद गुप्त के उपन्यासों में प्रगतिवादी चेतना" है। इस विषय पर सोचने के पहले "चेतना" शब्द की संकल्पना तथा "प्रगतिवाद" का स्वरूप देखना अनिवार्य है।

"चेतना" शब्द की संकल्पना :

"चेतना" सजीवों में रहनेवाला यह तत्व है, जो उन्हें निर्जिव पदार्थों से भिन्न बनाता है। "चेतना" मनुष्य की जीवन क्रियाओं को चलानेवाला तत्व हैं। चेतना स्वयं को और अपने आसपास के वातावरण को समझने तथा उसकी बातों का मूल्यांकन करने की शक्ति का नाम है। विज्ञान के अनुसार चेतना वह अनुभूति है, जो मस्तिष्क में पहुंचनेवाली अभिगामी आवेगों से उत्पन्न होती है। चेतना मनुष्य की यह विशेषता है जो उसे जीवित रखती है और जो उसे व्यक्तिगत विषय में तथा अपने वातावरण के विषय में व्यक्त करती है। चेतना मनुष्य की जीवित बनती है। मनुष्य चेतनायुक्त प्राणी है अतएव कोअी भी क्रिया करने के पहले वह उसके परिणाम के बारे में सोचता है।

"मनोविज्ञान की दृष्टि से चेतना मानव में उपस्थित वह तत्व है, जिसके कारण उसे सभी प्रकार की अनुभूतियाँ होती है। चेतना के कारण ही हम देखते, सुनते, समझते हैं और अनेक विषयों पर चिंतन करते हैं। इसीसे हमें सुख-दुःख की अनुभूति होती है। इसी के कारण हम अनेक प्रकार के निश्चय करते हैं तथा अनेक पदार्थों की प्राप्ति के लिए चेष्टा करते हैं।"[1]

मानवी चेतना को तीन भागों में बाटा जा सकता है - 1) ज्ञानात्मक 2) भावात्मक 3) क्रियात्मक आदि। क्रियात्मक चेतना से ज्ञान, भाव और क्रियाशीलता की अनुभूति होती है। किसी पदार्थ को जानने पर उसके स्वरूप का ज्ञान हमें होता है, उस पदार्थ के प्रति प्रिय वा अप्रिय भाव पैदा होता है और उसके प्रति इच्छा पैदा होती है जिसके कारण हम या तो उसे अपने समीप लाते या अपने से दूर हटाते हैं।

चेतना के तीन स्वर लक्षित होते हैं - चेतना, अवचेतना और अचेतना आदि। चेतना

स्तर पर हम सोचते, समझते और कार्य करते रहते हैं। चेतना में मनुष्य का अहं रहता है। अवचेतन स्तर पर मानव को तत्क्षण ज्ञान नहीं होता परंतु समय पर याद की जाती है। अवचेतन स्तर पर वे बातें आती हैं जिन्हें हम भूल चुके हैं और वे बातें प्रयत्न करने पर भी हमें याद नहीं आती।

चेतना समाज के वातावरण के संपर्क से विकसित होती है। वातावरण के प्रभाव से मनुष्य नैतिकता, औचित्य और व्यवहार कुशलता प्राप्त करता है। इसे चेतना का विकास कहा जा सकता है। विकास की चरमसीमा में चेतना निज स्वतंत्रता की अनुभूति करती है। वह सामाजिक बातों को प्रभावित कर सकती है तथा सामाजिक बातें से प्रभावित भी होती है। इतना ही नहीं इन प्रभावों से अपने आपको अलग भी करा देती है। चेतना की इस प्रकार की अनुभूति को शुध्द चैतन्य कहा जाता है।

"मनुष्य की "चेतना" उसके अस्तित्व" का निर्माण नहीं करती, इसके विपरित इसका सामाजिक अस्तित्व ही उसकी चेतना को निश्चित करता है।"[2]

"विकास की एक मंजिल तक पहुँचकर उत्पादन के मौजुदा संबंधों में और उत्पादन की भौतिक शक्तियों में टक्कर पैदा होती है। दूसरे शब्दों में संपत्ति के जीन संबंधों में बंदी रहकर ये शक्तियाँ काम करती है, उनसे उसकी टक्कर होती है ऐसी दशा में सामाजिक क्रांति का युग आरंभ होता है।"[3] संक्षेप में भौतिक जीवन में जो असंगतियाँ हैं, उत्पादन संबंधों और उत्पादन शक्तियों में जो संघर्ष है, उसके सहारे उस युग की "चेतना" समझ सकती है।

"चेतना" मानस की प्रमुख विशेषता है। इससे वस्तुओं, विषयों तथा व्यवहारों का ज्ञान होता है। चेतना परिवर्तनशील होती है। चेतना का प्रभाव हमारे अनुभव वैचित्र्य से प्रमाणित होता है और चेतना की अविच्छिन एकता हमारे व्यक्तिगत तादात्म्य के अनुभव से।"[4]

"या तो नई मान्यताएँ अत्यंत निर्बल अथवा नष्ट हो जाती है या उनके क्रांतिकारी रूप का लोप हो जाता है और वे समुहिक चेतना द्वारा ग्राहय रूप में परिणत हो जाती है।"[5] यहाँ "चेतना" को इतने व्यापक अर्थ में ग्रहण करने का हमारा उद्देश्य नहीं हैं। हमें तो "भैरवप्रसाद गुप्तजी के उपन्यासों में प्रगतिवादी चेतना" पर सोचना हैं। सामान्यतः "पग्रतिवादी चेतना" से हम किसी देश एवं काल विशेष से संबंधित मानव-समाज में अभिव्यक्त परिवर्तनशील जागृति समझते हैं। यह जागृति प्रतिक्रियात्मक हो सकती है। यह चेतना तत्कालीन जीवन में उत्पन्न गतिरोध एवं गतिशीलता से उत्पन्न हो सकती है। इसे सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक स्थितियाँ प्रेरणादायी हो सकती है। अतः इसी संदर्भ में ही हमें "प्रगतिवादी चेतना" का अध्ययन अभिप्रेत है।

निष्कर्ष :-

भैरवप्रसाद गुप्तजी के आलोच्य उपन्यासों में पूंजीवादी, सामंतवादी, जमींदारी अन्यायों एवं अत्याचारों के खिलाफ चेतना जागृति का काम सफलता के साथ किया हुआ देखने को मिलता है। किसान-मजदूर, मिल-मजदूर, शोषित नारी, पूंजीवादी शिक्षा व्यवस्था के खिलाफ भैरवजी ने भावात्मक स्तर पर चेतना जागृति का काम किया हुआ लक्षित होता है। भैरवजी ने अपने उपन्यासों में अवचेतन स्तर पर संचार करनेवाले पात्रों में चेतना जागृति का काम किया हुआ लक्षित होता है। "मशाल" का नरेन, "गंगामैया" का मटरू, "नौजवान" का भरत, "आग और आंसू" का चतुरी और मुंदरी ये पात्र इसके अच्छे उदाहरण हो सकते हैं। भैरवजी के उपन्यासों में चित्रित चेतना सामंती, पूंजीवादी, जमींदारी वातावरण के संपर्क से विकसित होती हुअी लक्षित होती है। भैरवजी के पात्रों में जब "चेतना" चरम सीमा तक पहुँचती हैं, तब उन्हें नीजी स्वतंत्रता की अनुभूति होती है।

प्रगतिवाद का स्वरूप :

"भैरवप्रसाद गुप्तजी के उपन्यासों में प्रगतिवादी चेतना" इस विषय पर सोचने से पहले प्रगतिवाद का स्वरूप प्रस्तुत करना अनिवार्य है। वास्तव में प्र + गति शब्द से प्रगति शब्द उत्पन्न हुआ। "प्रगति" का अर्थ गति एवं उन्नति है। "लाक्षणिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि प्राचीन मान्यताओं के विरूध्द समसामायिक विचारधारा का साहित्यिक आंदोलन ही प्रगतिवाद है।"6 कअी विद्वान समीक्षक प्रगतिवाद को भारतीय उपज न मानकर, मार्क्सवाद के प्रभाव से उसकी उत्पत्ति मानते हैं। प्रगतिवाद मार्क्सवाद के सिध्दांतों से साम्य अवश्य रखता हैं परंतु इसे विदेशी विचारधारा मानना उचित नहीं लगता है। समाज की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों की विषमता के कारण इस विचारधारा ने जन्म लिया। डॉ. रामविलास शर्मा की मान्यता है कि - "एक आलोचक का विचार है कि मार्क्सीय सौन्दर्यशास्त्र का नाम प्रगतिवाद है।"[7] डॉ. नामवर सिंह प्रगतिवाद को भारतीय मौलिक उपज स्वीकारते हुअे कहते हैं कि, "जो प्रगतिवाद को सर्वथा विदेशी विचारधारा कहते हैं, वे प्रगतिवाद के उद्‌भव और विकास की ऐतिहासिकता को समझने से इन्कार करते हैं।"[8] शिवकुमार मिश्रजी ने प्रगतिवाद के बारे में कहा है कि, "युगीन गतिविधियों को देखते हुअे, जितनी स्वाभाविक कोई बात हो सकती थी, प्रगतिवाद का अविर्भाव उतनाही स्वाभाविक था। वह काल पुरूष का वह निर्णय था जिसके सारे तत्कालीन युगजीवन में एकदम नक्स थे।"[9]

प्रगतिवाद सामाजिक यथार्थ के नाम पर चलाया गया वह साहित्यिक अंदोलन हैं जिसमें जीवन और यथार्थ को वस्तु सत्य को उत्तरछायादी काल में प्रश्रय मिला जिसने सर्वप्रथम यथार्थ की ओर समस्त साहित्यिक चेतना को अग्रसर होने की प्रेरणा दी। प्रगतिवाद का उद्‌देश्य था साहित्य में उस

SHIVAJI UNIVERSITY KOLHAPUR LIBRARY
BABASAHEB AMBEDKAR LIBRARY

सामाजिक यथार्थवाद को प्रतिष्ठित करना, जो छायावाद के पतनोन्मुख काल की विकृतियों को नष्ट करके एक नये साहित्य और नये मानव की स्थापना करे और सामाजिक सत्य को उसके विभिन्न स्तरों को साहित्य में प्रतिपादित होने का अवसर प्रदान करे। वर्ग-संघर्ष की सामान्य विचारधारा और संदर्भ में "नये-मानव", "नये-हिरो" की कल्पना इस साहित्य का उद्देश्य था। इसकी मूल प्रेरणा मार्क्सवाद से विकसित हुअी। इसका उद्देश्य और लक्ष जनवादी शक्तियों को संगटित करके मार्क्स और भौतिक यथार्थवाद के आधार पर मूल्यों को प्रतिष्ठापित करना था। उसकी आत्मा साम्यवाद में थी, दृष्टि रूस के साहित्यिक इतिहास की ओर थी और कल्पना प्रोलेतोरियन सत्ताशाही से अनुप्रणित थी। उसकी खोज उस नये मानव की थी जो समस्त पतनशील प्रवृत्तियों के विरोध में उपर्युक्त स्थापनाओं को विकसित करके प्रोलेतेरियन शासन संस्था को उभारने का अवसर दे।

"इसकी मूल स्थापना सैध्दांतिक रूप में प्रयोगशील थी इसलिए साहित्यिक अंदोलन को प्रगतिशील अंदोलन के नाम से भी जाना जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से जिस प्रकार का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद प्रेमचंदजी के उपन्यासों में और कलाकृतियों में विकसित हो रहा था, उसमें काफी अंश उस बौध्दिक जागरूकता का था जो रूस की क्रांति के बाद से समस्त बौध्दिक जनों के मानसिक स्तरों को आंदोलित कर रहा था। सन 1936 में प्रेमचंदजी के सभापतित्व में प्रगतिशील लेखकसंघ की स्थापना हुअी और धीरे-धीरे इसका संपूर्ण गठन समस्त देश और विभिन्न भाषा-भाषी प्रांतों में फैलाया गया। हिन्दी साहित्य में 'प्रगतिवाद" शब्द का प्रचलन मार्क्सवादी दृष्टिकोण से ही संबध्द है अतः प्रगतिवादी दृष्टिकोण का निरूपण मार्क्सवादी दृष्टिकोण द्वारा ही संभव है।

"मार्क्सवाद का सिध्दांत एक सर्वशक्तिमान सिध्दांत है क्योंकि वह सही, पूर्ण और सामंजस्यपूर्ण तथा मनुष्य को संसार का सामान्य प्रत्यय कराता है, जो किसी भी प्रकार के अंधविश्वास, प्रतिक्रिया अर्थात शोषकों के उत्पीडनात्मक पक्ष-पोषण से समझौता नहीं करता।"

निष्कर्ष :-

भैरवजी के उपन्यासों में स्थित प्रगतिवाद का स्वरूप वर्ग-संघर्ष से युक्त नये मानव की स्थापना करना लक्षित होता है उनके उपन्यासों में स्थित प्रगतिवाद के स्वरूप की मूल कल्पना मार्क्सवाद में तलाशी जा सकती है।

प्रगतिवाद का मूलाधार :-

मार्क्सवादी दृष्टि से - "सामाजिक विकास का वैज्ञानिक मार्ग अनुभव, ऐतिहासिक तथ्य एवं हमारे चारों ओर व्याप्त विश्व पर आधारित हैं। विश्व और समाज के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर आधारित अध्ययन के परिणाम स्वरूप प्राप्त ज्ञान समाज के परिवर्तन में उपयोग में लाया जा सकता है।

इतना ही नहीं ज्ञान का उपयोग बाह्य संसार में परिवर्तन लाने के लिए होता है।"[10] मार्क्सवाद के अनुसार बाह्य संसार और समाज की गतिशीलता के नियम एक ही प्रकार के होते है। मार्क्स और एंगल्स ने जनसमुदाय को केवल शिक्षा ही नहीं दी बल्कि उन्होंने जनसमुदाय से शिक्षा भी ग्रहण की। मार्क्सवादी दर्शन परिवर्तनशील विश्व और परिवर्तनशील समाज के ज्ञान पर आधारित है। यह गतिशील दर्शन है जिसका अनुभवों के साथ-साथ निरंतर विकास होता आ रहा है। मार्क्स के बाद विभिन्न मार्क्सवादी विचारों को - एंगल्स, लेनिन, स्टालिन, क्रुश्चेव, माऊत्से-तुंग आदि ने परिवर्तित परिस्थितियों को ध्यान में रखकर मार्क्सवादी दर्शन के क्षेत्र को विकसित किया। मार्क्सीय दर्शन के मुल में द्वंद्वात्मक एवं ऐतिहासिक भौतिकवाद का स्थान अग्रणेत रहा है। "मार्क्सवाद-लेनिनवाद का सिध्दांत न केवल आर्थिक सिध्दांत है न केवल पूर्ण रूप से राजनीतिक सिध्दांतही है किन्तु संसार के प्रति एक दृष्टिकोण - एक दर्शन है।"[11]

डॉ. जोशी के मतानुसार "भारतीय मार्क्सवाद अपनी समस्त शक्तियों के बावजूद अनुरूप बौध्दिक शक्ति एवं अंदोलन के रूप में विकसित नहीं हुआ। वें पूछते है कि क्यों अनुकूल वस्तुनिष्ठ परिस्थितियों के बावजूद मार्क्सवाद की जड़े भारत में मजबूत नहीं हुअी? इसका कारण है कि मार्क्सवादियों ने भारत के सामाजिक, आर्थिक और वैचारिक, सांस्कृतिक परिवेश की विशिष्टताओं पर ध्यान नहीं दिया। अतः भारतीय मार्क्सवाद भौतिक होने की अपेक्षा व्युत्पादित, वैज्ञानिक की अपेक्षा पंडिताऊ, ग्रहणशील की अपेक्षा स्वाग्रही और सकारात्मक की अपेक्षा निषेधात्मक अधिक रहा है।"[12]

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद मार्क्सीय और लेनिन दल का विश्व के प्रति एक दृष्टिकोण है। मार्क्सवादी द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को सत्य के अधिक समिप मानते है। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद दर्शन के क्षेत्र में एक क्रान्ति है।

निष्कर्ष :-

उपुर्यक्त जानकारी के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि भैरवजी का प्रगतिवाद द्वंद्वात्मक भौतिकवाद पर आधारित है। उनका द्वंद्वात्मक भौतिकवाद सत्य के अधिक निकट और क्रान्ति का मूल उत्स लगता है।

भारतीय प्रगतिवाद की पृष्ठभूमि :-

छायावाद के रोमांटिक एवं काल्पनिक साहित्य से उबन पैदा होना नैसर्गिक था। छायावाद अपनी चरमसीमा पर पहुँचकर ठहर गया था। छायावादी कविता समाज तथा युगीन समस्याओं से दूर होकर काल्पनिक जगत जीने लगी थी। साहित्यिक रचना से सामाजिक व सांस्कृतिक मूल्यों का मूल्यांकन होता है, लेकिन स्वच्छंदतावादी धारा कवि को बिम्बवाद और आंतरिक सौन्दर्यसत्ता की ओर ले

गयी जब कि आम आदमी भयंकर टूटन के क्षण जी रहा था।

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के शब्दों में - "इन नकली रहस्यवादियों, तथा कोरे कल्पना जीवियों में तो अनुभूति या अभिव्यक्ति को किसी भी स्तर पर इमानदारी खोजना संभव न था। ये तो कविता की हरी-भरी खेती को चर जानेवाले पुच्छ विषाणहीन जंतु थे.... पूर्ववर्ती कविता की इस संकीर्ण आकृति के प्रति प्रतिक्रिया तथा नई रचनात्मक शक्तियों के प्रति आत्मियतापूर्ण रूख लिये नये बौध्दिक तथा भावात्मक संवेदनों की भूमि पर इसी बीच प्रगतिवादी कविता ने जन्म लिया जिसने युग की आशा-आकांक्षाओं के साथ तादात्म्य करते हुए कविता के क्षेत्र में एक नये प्रवर्तक को मूर्त स्वरूप प्रदान किया।"[13]

"सामाजिक वर्णनाओं तथा युगीन स्थितियों ने ऐसा वातावरण उत्पन्न कर दिया कि अतिचारी व्यवस्था के प्रति विद्रोह का होना स्वाभाविक हो गया। मध्यवर्ग व उच्चवर्ग के मध्य खाई और अधिक चौडी हो गई मध्यवर्ग इमानदार रचना के प्रति आग्रहशील होता चला। सामाजिक विषमता और विसंगतियों के कारण प्रगतिवाद ने जन्म लिया।"[14]

समूचें विश्व में परिवर्तन की लहर आयी और आंतरिक सौन्दर्य को व्याप्त करनेवाली कल्पनामयी कविता का खुला विरोध होने लगा। यूरोप के बुध्दिजीवियों ने "प्रगतिशील लेखक संघ" का निर्माण कर एक नये अंदोलन को जन्म दिया। इस संघ का सर्वत्र प्रचार हुआ। स्थान-स्थान पर शाखाएँ स्थापित हुअी। प्रगतिशील लेखक संघ के अध्यक्ष मुंशी प्रेमचंदजी ने प्रगतिवाद की सार्थकता को सिध्द करते हुअे कहा - "हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं समझते। हमारी कसौटी पर केवल वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च-चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाईयों का प्रकाश हो, जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करें, सुलाए नहीं क्योंकि अब और जादा सोना मृत्यु का लक्षण है।"[15]

प्रेमचंदजी ने छायावादी साहित्य को निरर्थक, काल्पनिक और निराशाजन्य घोषित किया। "समाज को काल्पनिक आदर्श की अपेक्षा नहीं है तथा कोरी आंतरिक सौन्दर्य की सत्ता भूख नहीं है अपितु उसे कर्म के संदेश की अपेक्षा है। समाज को उस कला की अनिवार्यता है जो उसे जडता से चैतन्य की ओर ले जाने में सहाय्यक सिध्द हो सके।"[16] अतः नये स्वर व नये आंदोलन की अनिवार्यता प्रेमचंदजी ने समझायी।

रविन्द्रनाथ टैगोर की अध्यक्षता में प्रगतिशील लेखक संघ के दूसरे अधिवेशन में साहित्य की आवश्यकता विषयक घोषणापत्र पारित किया गया, जिसमें लेखक के बारे में इस प्रकार की

अपेक्षाएँ व्यक्त की गई - "प्रत्येक भारतीय लेखक का कर्तव्य है कि वह भारतीय जीवन में जीनेवाले परिवर्तनों को अभिव्यक्ति दे और साहित्य में वैज्ञानिक बुध्दिवाद का समावेश करके देश में क्रांन्ति की भावना के विकास में सहाय्यता पहुँचाए। उन्हें साहित्य समीक्षा के ऐसे दृष्टिकोण का विकास करना चाहिए जो परिवार,धर्म, काम, युध्द और समाज के प्रश्नों पर सामान्यतः प्रतिक्रियाशील तथा पुराणपंथी प्रवृत्तियों का विरोध करें। उन्हें ऐसी प्रवृत्तियों का विरोध करना चाहिए जो सांप्रदायिक जाति द्वेष तथा मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की भावना को प्रतिबिंबित करती हो।"[17]

"इस तरह समय-समय पर भारत व विदेशों में प्रगतिशील लेखक संघ के अधिवेशन होते रहे और मानवता के हितों के प्रति आग्रहशील रहे। प्रगतिशील लेखक निर्माण की दिशा की ओर बढता है, उसे जीवन की अनिवार्यता से कट कर जाना स्वीकार नहीं है। प्रगतिशील लेखकों का उद्देश्य मानवता को आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक रूढिग्रस्त व शोषण से हटकर स्वस्थ दिशा देना रहे।"[18] डॉ. जोशीजी के मतानुसार "भारतीय बुध्दिजीवियों का चिंतन एक आरोपित मार्क्सवाद के रूप में भारतीय सामाजिक अस्तित्व और जीवन की उर्ध्व-मध्य युगीन दशाओं के विकृति पैदा करनेवाले प्रभावों से, जो कि भारत जैसे देश में प्रबल है, बच नहीं सका है।"[19]

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि प्रगतिवाद के उदय की पृष्ठभूमि में निम्नकारण प्रमुख हैं -

छायावादी विचारधारा में स्थित काल्पनिकता के कारण किसी प्रकार का बल प्राप्त नहीं हो रहा था, अपितु दुःख व निराशा के प्रचार के कारण व्यक्ति का मनोबल टूटता जा रहा था।

युगीन, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक स्थितियों से समाज में वर्ग भेद को उत्पन्न कर दिया था जिससे समाज स्पष्टतः दो वर्गों में विभिन्न हो चला था।

आर्थिक शोषण और सांस्कृतिक बोझ के कारण प्रतिक्रिया का जन्म लेना स्वाभाविक था।

प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना, प्रचार, प्रसार, अधिवेशन, घोषणा-पत्रों के कारण इन विचारों को बल मिला।

फासिज्म का विरोध भी इसका एक कारण रहा।

मानवता के हितों की सुरक्षा के लिए संकल्पशील भावनाओं का ज्वार प्रगतिवाद के उद्‌भव की भूमिका में योगदान ठहरा।

मार्क्सवादी विचारधारा ने इसे बल मिला।

सत्य की अभिव्यक्ति और सही दिशा देने की भावना प्रगतिवाद के मूल में रही।

जनवादी-स्वर, खंडित समाज तथा आस्थाओं का पुनर्जन्म प्रगतिवाद के मूल में रहा।

प्रगतिवाद पर लगाये गये आरोप :-

प्रगतिवाद का विरोध करते हुऐ कुछ लेखक कहते है कि - "यह सर्वथा अभारतीय एवं विदेशी विचारधारा हैं क्योंकि एक तो यह मार्क्सवाद पर आधारित है, दूसरा इसका सूत्रपात जिस "प्रगतिशील लेखक संघ" से रहा जो फ्रान्स के विदेशी वातावरण में स्थापित हुआ था और अब भी वह उस कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा संचलित होता है जिसकी धमनियाँ सोवियत रूस के हाथ में सुरक्षित हैं। परंतु हिन्दुस्तान के अनगिनत लेखकों और पाठकों ने प्रगतिशील साहित्य को अपनाकर इसकी भारतीयता प्रमाणित कर दी है और उन्होंने तमाम विरोधी आलोचकों को मुँहतोड जबाब दिया है इसलिए प्रगतिवाद की भारतीयता अभारतीयता को लेकर बहस करना अब बेकार है, फिर भी लोगों की दृष्टि के लिए उस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की ओर संकेत किया जा सकता है, जिसके अनिवार्य परिणाम स्वरूप प्रगतिवाद हुआ।"[20]

यदि प्रगतिवाद की जननी मार्क्सवाद हैं तो हिन्दी में प्रगतिवाद का जन्म 19 वीं सदी में ही हो जाना चाहिए था क्योंकि उस समय यूरोप में मार्क्सवाद की धूम मची हुअी थी और हिन्दुस्तानी लोग तबतक यूरोप के संपर्क में अच्छी तरह आ गये थे। लेकिन वास्तविकता यह है कि हिन्दी में प्रगतिवाद पैदा हुआ 1930 ई. के बाद। इसका साफ मतलब है कि प्रगतिवाद हिन्दी में समय पर ही पैदा हुआ था। सन 1930 के आसपास हिन्दुस्तान की कांग्रेस में वामपक्षी दल कायम हो गया था। स्वयं कांग्रेस के प्रस्तावों में हिन्दुस्तान के श्रमजीवी जन-समूह की चर्चा होने लगी थी। किसान-मजदूर आंदोलन में काफी ताकत आ गयी थी। तत्कालीन साहित्य में भी राजनीतिक जागरण की छाया दृष्टिगोचर होने लगी थी। प्रेमचंदजी के "गबन" का देवी दीन खटिक बडे लोगों के सुराज की आलोचना तथा श्रमजीवियों के सुनहले भविष्य के विषय में भविष्यवाणी भी करने लगता है। वह किसान मजदूरों का पक्षधर बन जाता है। "प्रसादजी के "तितली" में इस उभरते हुअे वर्ग की छाया स्पष्ट दिखाई पडती है। कविता के क्षेत्र में भी सामाजिकता का आग्रह 1930 के बाद बढने लगा। आचार्य रामचन्द्र शुक्लजी आलोचना के क्षेत्र में "लोकमंगल की साधनावस्था" पर जोर देकर साहित्य के सामाजिक मुल्यांकन के लिए मार्ग प्रशस्त कर रहे थे।"[21]

"ऐसी सामाजिक और साहित्यिक परिस्थितियों में प्रगतिवाद का प्रार्दुभाव होना युग की स्वाभाविक आवश्यकता थी। उस समय लेखकों ने जिस उत्साह से प्रगतिवाद को अपनाया उससे प्रगतिवाद भारतीय साहित्य परंपरा की स्वाभाविक आवश्यकता प्रतित होती है।"[22]

"इस अवश्यकता की पूर्ती के लिए जिस प्रकार का प्रगतिशील साहित्य लिखा गया, उससे यही प्रमाणित होता है कि प्रगतिवाद हिन्दी साहित्य की परंपरा का स्वाभाविक विकास है। प्रगतिवाद के नाम पर आरंभ में पंतजी ने जो मार्क्सवाद और गांधीवाद, भौतिकवाद और अध्यात्मवाद, सामूहिकता और वैयक्तिकता, बहिर्जगत और अंर्तगत भाव और रूप वगैरे का समन्वय करना चाहा, उसमें छायावादी परंपरा का आग्रह स्पष्ट है।"[23]

प्रगतिवाद और प्रगतिशील में अंतर :

छायावाद के गर्भ से सन 1930 के आसपास नवीन सामाजिक चेतना से युक्त जिस साहित्य धारा का जन्म हुआ उसे सन 1936 में प्रगतिशील साहित्य अथवा प्रगतिवाद की संज्ञा दी गयी। तबसे इस नाम के औचित्य-अनौचित्य को लेकर काफी वादविवाद को प्रगतिवाद के नाम से ही पुकारा जाता है।

कुछ लोग प्रगतिवाद और प्रगतिशील साहित्य में भेद करते हैं। उनके मतानुसार मार्क्सिय सौन्दर्यशास्त्र का नाम प्रगतिवाद है और आदिकाल से लेकर अब तक की समस्त साहित्य परंपरा प्रगतिशील साहित्य हैं। इस तरह वे केवल छायावाद के बाद की साहित्यिक प्रवृत्ति के लिए "प्रगतिशील साहित्य" नाम का प्रयोग अनुचित मानते हैं।

दूसरी ओर ऐसे भी हैं जो मार्क्सवादी साहित्यसिध्दांत तथा इस सिध्दांत के अनुसार रचे हुए साहित्य को प्रगतिवाद कहना चाहते हैं और छायावाद के बाद की व्यापक सामाजिक चेतनावाले समस्त साहित्य को "प्रगतिशील" साहित्य कहते हैं, जिसमें विभिन्न राजनीतिक मतों के बावजूद एक सामान्य मानवतावादी भावना व्याप्त है। इस तरह प्रगतिवाद को संकीर्ण और साम्प्रदायिक बतलाते हैं तथा प्रगतिशील साहित्य को व्यापक और उदार। उनके अनुसार प्रगतिशील लेखक संघ द्वारा निर्धारित और प्रचारित साहित्य प्रगतिवाद है और बाकी प्रगतिशील साहित्य।

परंतु जिस तरह छायावाद और छायावादी कविता भिन्न नहीं है, उसी तरह प्रगतिवाद और प्रगतिशील साहित्य भी भिन्न नहीं। "वाद" की अपेक्षा "शील" को अधिक अच्छा और उदार समझकर इन दोनों में भेद करना बुध्दिविलास है और इस मान्यता के पीछे प्रगतिशील साहित्य का प्रवच्छन्न विरोधाभास छिपा है।

जिस प्रकार छायावादी कवियों में किसी को शुध्द छायावादी व औरों को मिश्रीत छायावादी कहने का जोर शोर रहा है उसी तरह प्रगतिवाद में भी किसी को भी शुध्द प्रगतिवादी अथवा अधिक प्रगतिशील और दूसरे को प्रगतिशील कहने की हवा है। अतः इस में प्रगतिवाद में भेद करने की आवययकता नही होती

GATE. BALASAHEB KHARDEKAR LIBRARY

प्रगतिवादी साहित्य अंग्रेजी के "प्रोग्रेसिव्ह लिटरेचर" का हिन्दी अनुवाद है। अंग्रेजी साहित्य में इस शब्द का प्रचार सन 1935 ई.के आसपास विशेष रूप से हुआ जब इ.एम.फास्टर के सभापतित्व में पेरिस में "प्रोगेसिव राइटर्स एसोसिएशन" नामक अंर्तराष्ट्रीय संस्था का प्रथम अधिवेशन हुआ। हिंदुस्तान में उसके दूसरे साल डॉ.मुल्कराज आनंद और सज्जाद जहीर के उद्योग से जब उस संस्था की शाखा खुली और प्रेमचंद की अध्यक्षता में लखनऊ में उसका प्रथम अधिवेशन हुआ तो यहाँ रेचर अथवा प्रगतिशील साहित्य का प्रचार हो गया कालक्रम अथवा कालांतर से यही प्रगतिवाद हो गया।

"हिन्दुस्तान में 1936 के आसपास एकदम यूरोप का सा गतिरोध तो नहीं था, लेकिन कविता में छायावाद का विकास लगभग रूक सा गया था और कवि कुछ नये विचारों और व्यंजना के माध्यमों को खोज में थे ऐसे ही समय यूरोप से लौटे हुए हिन्दुस्तानी लेखकों ने "प्रगति" की आवाज लगाई और यह आवाज छायावादी कवियों को अपने अंतर की प्रतिध्वनि प्रतित हुअी। सुमित्रानंदन पंत, निराला, महादेवी ने भी इस दिशा में प्रयत्न किये हैं।"[24]

"प्रगतिवाद के प्रति आरंभ में जितनी ललक कवियों की रही उतनी उपन्यासकारों की नहीं। उपन्यासकारों के लिए यह संदेश बहुत नया नहीं था क्योंकि उपन्यास का जन्म ही सामाजिक यथार्थ को लेकर हुआ था।"[25]

यही वजह है कि, "प्रगतिशील लेखक संघ" के अध्यक्षपद से भाषण करते हुअे प्रेमचंदजी ने कहा कि - "लेखक स्वभावतः प्रगतिशील होता है, इसलिए "प्रगतिशील लेखक संघ" में प्रगतिशील शब्द अनावश्यक हो गया।"[26]

कुछ लोगों ने प्रेमचंदजी के इस कथन का सहारा लेकर प्रगतिशील शब्द को गलत ठहराने की कोशिश की, लेकिन उसे कथन को पूरे प्रसंग में रखकर देखने से सही अर्थ समझ में आ जाता है।

"इस कुतुहलहीनता के बावजुद उपन्यासकारों में दिल खोलकर प्रगतिशीलता का स्वागत किया जैसे प्रेमचंद के कथन और आचरण से स्पष्ट है।"[27]

"आलोचना के क्षेत्र में प्रगतिवाद साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या का नारा दिया जो साहित्य के लिए काफी उत्तेजक प्रतित हुआ। फलतः आलोचना के क्षेत्र में प्रगतिवाद का सबसे अधिक स्वागत हुआ। इस तरह प्रगतिवाद एक ऐसी जीवन दृष्टि बन गयी जिससे कविता, उपन्यास, आलोचना सभी क्षेत्रों में नवीन दिशाओं और मान्यताओं के द्वार खुल गये। छायावाद से प्रगतिवाद इसी अर्थ में विशिष्ट है कि छायावादी जीवन-दृष्टि जहाँ अधिकांशतः कविता के सूत्र में ही व्यक्त होकर रह गई, वहाँ प्रगतिवादी जीवन दृष्टि साहित्य के प्रायः सभी क्षेत्रों में अपनी अभिव्यंजना करने लगी। इस तरह

प्रगतिवाद रचनात्मक साहित्य और आलोचनात्मक मानदंड दोनों हैं।"[28]

अर्थात जो विचारधारा राजनीतिक क्षेत्र में साम्यवाद, सामाजिक क्षेत्र में, दर्शन के क्षेत्र में द्वंद्वात्मक भौतिकवाद है वही साहित्यिक क्षेत्र में प्रगतिवाद के नाम से अभिहित की जाती है। दूसरे शब्दों में मार्क्सवादी या साम्यवादी दृष्टिकोण के अनुसार निर्मित काव्यधारा प्रगतिवाद है। हिन्दी के बहुत से विद्वानों ने "प्रगतिवाद" और प्रगतिशील इन दोनों शब्दों को एक दूसरे के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त किया है, परंतु ऐसा करना भ्रामक है। इन दोनों के अर्थ में सूक्ष्म अंतर है। "प्रगतिवाद" शब्द मार्क्स की साम्यवादी विचारधारा से सर्वथा संबध्द है जब कि प्रगतिशील शब्द उससे सर्वथा स्वतंत्र। किसी भी उपकरण से समाज को उन्नति की ओर अग्रसर करनेवाला साहित्य प्रगतिशील कहला जा सकता है और ऐसा करना साहित्य का शाश्वत धर्म है। वाल्मिकी,व्यास, कालिदास, तुलसीदास, सूर, प्रसाद और मैथिली शरण गुप्त का साहित्य प्रगतिशील है, किन्तु उसे रूढ अर्थ से प्रसाद और गुप्त का साहित्य नहीं कहा जा सकता। प्रगतिवादी साहित्य सामाजिक वैषम्य के निवारण करने के लिए मार्क्सवादी विचारधारा को माध्यम के रूप में अपनाने के लिए विवश है।"[29]

प्रगतिवाद के उद्‌भव के साथ-साथ कतिपय क्षेत्रों से "वाद" और "शील" का भी एक प्रश्न उठाया गया। इन प्रकार के मंतव्य सामने आये कि, "जिस साहित्य में बिना किसी प्रकार के भी राजनीतिक विचारों के अग्रह सामान्यतः मानवतावादी चेतना तथा सामाजिक भावना की स्थिति है, वह प्रगतिशील साहित्य हैं। इस तथ्य के समर्थकों के अनुसार इस प्रकार का साहित्य प्रगतिवाद के उद्‌भव के बहुत पहले से रचा जा रहा हैं और उसके उद्‌भव के बाद भी उसकी परंपरा ज्यों-की-त्यों बनी हुअी है। इसके विपरित जो साहित्य प्रगतिवादी आंदोलन की प्रेरणा से, खास किस्म से राजनीतिक विचारों की छाया लिए सामाजिकता अथवा मानवतावाद को विशिष्ट धारणाओं से निर्मित है, वह प्रगतिवादी साहित्य है। स्वाभाविक था कि इस प्रकार की विचार धारावाले प्रगतिशील साहित्य को प्रशस्त, व्यापक, उदार तथा वरेण्य बताते और प्रगतिवादी साहित्य को संकीर्ण तथा दलगत राजनीति से प्रभावित मानते है। इस प्रकार के विवाद को एक बल प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अधिवेशन में अध्यक्षपद से दिये गये प्रेमचंदजी के इस भाषण के इस अंश से मिला कि, "प्रगतिशील लेखक संघ यह नाम भी मेरे विचार से गलत है। साहित्यकार या कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है। अगर यह उसका स्वभाव न हो तो शायद वह साहित्यकार ही न होता। यदि साहित्यकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है तो प्रेमचंद को पूर्ववर्ती साहित्य की संकीर्ण अकृति के विरोध की अवश्यकता ही क्या थी?"[30]

वस्तुतः वाद और शील का उक्त प्रश्न प्रगतिशील चेतना के लोगों को सही पथ से गुमराह करने के लिए ही उठाया गया था जिसका विशेष प्रभाव नहीं पडा। उस युग के अधिकांश

लेखकों ने (प्रेमचंद युग के) "वाद" और "शील" शब्द समानार्थी समझते हुए ही अपना रास्ता तय किया, जो सही रास्ता था।"[31]

निष्कर्ष :

आज साहित्य में प्रगतिवाद और प्रगतिशील में अधिक अंतर महसूस नहीं होता है। इन दोनों का उद्देश्य जनजागृति, समाज प्रबोधन, सामाजिक चेतना, नवजागरण से जोडा जा रहा है। आज की स्थिति में प्रगतिवाद की और प्रगतिशील दोनो संकल्पनाओं का साहित्य के क्षेत्र में सभी साहित्यिक विधाओं में प्रचलन विस्तृत रूप में शुरू हो गया है। साहित्य के सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, व्यक्तिवादी, जनवादी, आंचलिक, नागरी, ग्रामांचलिक, पहाडी आंचलिक, अस्तित्व वाद से प्रभावित साहित्य विधा आदि सभी विधाओं में प्रगतिवाद का विस्तार लक्षित हो रहा है।

प्रगतिवाद की कमियाँ :

प्रगतिवाद के कअी लेखकों एवं कअी प्रश्नों संबंधी कअी आरोप लगाये जा रहे हैं। कअी दुर्बलताएँ एवं कमियाँ दिखायी जा रही है। इसका जिक्र यहाँ करना अत्यंतिक संगत होगा।

(1) प्रगतिवाद की कमियों एवं दुर्बलताओं पर लक्ष केंद्रित करने के लिए पहला प्रश्न यशपाल के उपन्यासों पर उठाया जाता है। यशपाल को प्रगतिवादी उपन्यासकार माना जाता है परंतु उनके उपन्यासों में पाये जानेवाले यौन-प्रसंगों तथा सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओंके बीच उन्होंने ढाले हुअे यौन-संबंधों को पढकर भ्रम पैदा होता है। यशपाल की अनेक रचनाओं में मध्यमवर्गीय यौन-कुंठाओं की पृष्ठभूमि पर रोमांस और राजनीति का यह संमिश्रण दिखाई देता है। इसकी ओर प्रगतिशील लेखकोंने उंगली उठायी है। यशपाल के पात्र मध्यवर्गीय हैं - उनकी नारियां एवं पुरूष यौन कुंठाओं से पीडित हैं। प्रणय, विवाह और संतानोत्पत्ति जैसे विषयों पर अपनी वर्गीय दृष्टि के लिए उनपर प्रगतिशीलता का रंग चढाते हुअे वे अपनी राजनैतिक तथा सामाजिक जीवन में भी सक्रिय होते हैं। उनके राजनीतिक और सामाजिक क्रियाकलापों के साथ - साथ यौन भावना भी अभिव्यक्त होती है। "दादा कामरेड" में शैल-हरीश का संबंध "देशद्रोही" में चंदा-खन्ना संबंध, यमुना-राज जैसी नारियों के प्रेमविवाह के प्रकरण, "मनुष्य के रूप में" मनोरमा और "सीता" का उच्छृंखल यौन-व्यवहार, "झूठा-सच" में तारा-शीला के विचारों पर लगाये गये आरोपों को बल देते हैं। यशपाल अपने ऊपर लगाये गये इन आरोपों का खंडन करते हुअे कहते हैं - "उनके पात्र मध्यवर्गीय है, उनमें अन्य प्रकार की कुंठाओं के साथ-साथ यौन कुंठायें भी हैं, यही कारण है कि यथार्थ के संबंध में उनके चरित्र की असलियतही उनके उपन्यासों में उभरी है। फलतः उनके ऊपर लगाया गया आरोप निरर्थक है। उनका यह भी कहना है कि उनके उपन्यासों में नाना प्रकार की अन्य राजनीतिक, सामाजिक समस्याएँ भी समकालीन हुअी हैं। पात्रों के चरित्रों के अन्य स्तर या आयाम भी हैं, परंतु पाठक क्यों उनके यौन प्रसंगों पर ही आँखें

टिकाते हैं।

उनके उपन्यासों का पाठक स्वतः यौन ग्रंथियों से पीडित है इसलिए उनकी दृष्टि बाकी सभी बातों को छोडते हुअे उक्त प्रकार के प्रसंगों पर ही केंद्रित होती है। इस तरह यशपाल ने अपने ऊपर लगाये गये आरोपों का खंडन किया है। वैसे देखा जाय तो उनके उपन्यासों में बहुत कुछ ऐसे प्रसंग है जो जीवित, जागृत और महत्वपूर्ण हैं। प्रगतिशील लेखक को यह करना चाहिए था कि मध्यवर्ग की यौन संबंधों को प्रगतिशील लेखक की भांति नये आयामों में ढालना चाहिए था। मध्यवर्ग की इस असलियत के प्रगतिशीलता का संदर्भ देना चाहिए था। कमजोरी को कमजोरी के रूप में सामने लाना चाहिए था परंतु यहाँ कथा को रोचकता का एक अंग माना है। नारी के संबंध में सामंती दृष्टिकोण उनका मध्यवर्गीय लेखक अपने मस्तिष्क से पूरी तरह निकाल नहीं सकता।

"यशपाल प्रगतिशील विचारों के कलाकार हैं परंतु उनका विवेक जाने-अनजाने इस पक्ष में संस्कारों की चपेट में आ गया है। कभी कभी ऐसा लगता है कि मार्क्सवाद के प्रति यशपाल की धारणा साफ नहीं। अन्यथा वे "ग्लास-वॉटर" सिध्दांत या विचार को मार्क्सवादी कहकर अपने पाठकों के गले के नीचे उतारने का प्रयास न करता। परिणामतः प्रगतिशील साहित्य एक बकवास लगता है।"[32]

"मार्क्सवाद और सेक्स के अन्योन्याश्रित संबंधों का प्रतिपादन कर हिंदी में जिस झूठ को फैलाया गया है इसका थोडा बहुत दायित्व यशपाल के साथ-साथ राहुल जैसे प्रकांड पंडित को भी है। यशपाल की नारियाँ आत्मदान के लिए आतुर रहती है। पुरूष को देखते ही उनके नारित्व का भार उतार फेंकती हैं। उनके जीवन की सार्थकता उच्छृंखल रति प्रसंगों में ही है। यशपालजी के यौन कुंठाग्रस्त पात्र कम्युनिस्ट भी दिखाए गये हैं। यशपाल के उपन्यासों में दृढ कर्मठ तथा सच्चे प्रगतिशील नायक नहीं मिलते हैं। वे सजीव होकर भी प्रगतिशील यथार्थ के पुरस्कर्ता नहीं इसलिए प्रगतिशील मार्क्सवादी समीक्षक उन्हें मार्क्सवादी या प्रगतिशील कथाकार तक मानने में भी संकोच करते हैं। यशपाल के अलावा जिन अन्य कथाकारों में भी जहाँ कहीं उक्त यौन भूमिकाएँ आयी हैं, उन्हें लेखकों के मध्यवर्गीय संस्कारों का प्रतिफल समझना चाहिए। जो लोग इस प्रकार के छुट-पुट प्रसंगों को खोजकर समुचे प्रगतिशील साहित्य को लांछित करने का प्रयास करते हैं, उनके लिए हमारा यही कहना है कि प्रगतिशील कथा साहित्य की उपलब्धियाँ इतनी भास्वर हैं कि इस प्रकार के सतही प्रयास उनके संदर्भ में कोई अहमियत नहीं रखते।"[33] परंतु हमें लगता है कि यशपाल पर लगाया गया यौन कुंठा का आरोप भ्रामक है। कारण यौन कुंठा में भी प्रगतिवादी विचारधारा को ठूँसने का अच्छा काम यशपाल ने किया है। यौन संबंध मानवी जीवन की एक अवश्यकता है, भूख है। अतः इसके पर्तों को खोलना प्रगतिवादी दृष्टिकोण भी हो सकता है।

(2) प्रगतिवाद पर दूसरा आरोप प्रगतिशील कथा साहित्य तथाकथित राजनीतिक मतवादिता तथा उद्देश्य परकता को लेकर है परंतु यह गलत है। कोई लेखक निरूद्देश्य नही लिखता। प्रगतिशील चेतना का प्रत्येक लेखक साहित्य सर्जना का संकल्प लेकर सृजन कार्य करता है। हिन्दी साहित्य में अर्शीवचन से प्रगतिवाद का अवतरण नहीं हो पाया है। इन लेखकों ने इस धारा को सोद्देश्य साहित्य में लाया हैं। इसे हम आरोप नहीं कह सकते हैं। कुछ लोग राजनीतिक मतवादिता का आरोप लगाते लगाते स्वतः असंगतियों के शिकार बने चुके हैं। अतः राजनीतिक मतवादिता का आरोप गलत है। उदा. - हिन्दी के सर्वज्ञ समीक्षक लक्ष्मीकांत वर्मा को इन उपन्यासों में यदि सबसे अधिक खटकनेवाली बात भौतिकवादी द्वंद्ववादी दर्शन की है परंतु यह अयोग्य लगता है।

(3) प्रगतिवादी साहित्य पर विचार-बोझिलता निरसता तथा कलात्मकता का आरोप लगाया जाता है। इस आरोप को प्रगतिवादी उपन्यास साहित्य प्रचारात्मक एवं कला की दृष्टि से दुर्बल लगता है कारण इनमें मार्क्सवादी दृष्टि की स्थिति है। इन बातों से ऐसा लगता है कि इनमें हमें इस दर्शन के अलावा किसी दूसरे भारतीय या पश्चिमी दर्शन की स्थिति होती, या मार्क्सवादी दर्शन का मखौला उडाया जाता था उसका विरोध किया जाता तो ये उपन्यास कला की दृष्टि से सुंदर होते है परंतु यह आरोप भी अयोग्य लगता है।"[34]

निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते है कि प्रेमचंदोत्तर युग के अन्य तमाम लेखकों में प्रगतिशील कलाकारों की उपलब्धियाँ अधिक जीवंत लगती है। उदा. 'झूठा-सच,' 'बूंद और समुद्र,' 'कब तक पुकारूँ,' 'बलचनमा,' 'उग्रतारा,' 'सूखा पत्ता' आदि उपन्यास प्रगतिवाद के कारण ही जीवंत बन चुके हैं। इनमें अंतर्राष्ट्रीय भूमिका भी व्याप्त है। प्रेमचंदोत्तर युग की प्रगतिवादी उपलब्धियाँ सर्वाधिक सक्रिय लगती हैं। ये उपन्यास युगजीवन के सही प्रतिनिधित्व करते हैं। इनमें सही छबियाँ देखने को मिलने के कारण ही इन उपन्यासों के पाठक भी बढ गये हैं।

हिंदी उपन्यास साहित्य में प्रगतिवाद :-

उपन्यास साहित्य के क्षेत्र में भी प्रगतिवाद अपनी समस्त आधारभूत मान्यताओं को लेकर उतरा। प्रेमचंद हिन्दी के पहले कथाकार थे जिन्होंने उपन्यास को कोरे मन बहलाव तथा सतही नीतिवाद धरातल पर से ऊपर उठाकर एक सार्थक सोद्देश्य साहित्य विधा के रूप में प्रतिष्टा दी।

सन 1936 में "प्रगतिशील लेखक संघ" के प्रथम अधिवेशन में अध्यक्षपद से भाषण देते हुअे प्रेमचंदजी ने नये पीढी के लेखकों से कहा था - "हमने जिस युग को अभी पार किया है, उसे जीवन से कोई मतलब नहीं था। हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सृष्टि खडी करके उसमें मनमाने तिलस्म बांधा करते थे। कहीं "फिसानये-अजायब" की दास्तान थी, कहीं "बोस्ताने-खयाल" की और

कही "चन्द्रकान्ता संतति" की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था हमारी अद्भूत रस-प्रेम की तृप्ति, साहित्य का जीवन से कोई लगाव है, यह कल्पनातीत है। कहानी-कहानी है, जीवन - जीवन है। दोनों परस्पर विरोधी वस्तुएँ समझी जाती थी। कवियों पर भी व्यक्तिवाद का रंग चढा था। "अब तो हमें उस कला की अवश्यकता है जिसमें कर्म का संदेश हो। ...अतः हमारे पथ में अहंवाद तथा अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण को प्रधानता देना, वह वस्तु है, जो हमें जडता, पतन और लापरवाही की ओर ले जाती है और ऐसी कला हमारे लिए न व्यक्तिरूप में उपयोगी है, और न समुदाय के रूप में।"[35]

प्रेमचंदजी की विचारधारा के वाहक उपन्यासकारों ने सामाजिक यथार्थ चित्रण के सशस्त्र माध्यम को स्वीकार किया। प्रगतिवादी चेतना से सीधी प्रेरणा लेनेवाले कथाकारों में यशपाल, नागार्जुन, रांगेय राघव, राहुल सांकृत्यायन, अमृत राय तथा भैरवप्रसाद गुप्त के नाम प्रमुख हैं।

"नये युग में भी प्रगतिवादी चेतना ने नई पीढी के अनेक कथाकारों को स्वस्थ सामाजिक यथार्थ दृष्टि के आधार पर नई उपलब्धियों की ओर प्रेरित किया। राजेंद्र यादव, कमलेश्वर, रेणु, मोहन राकेश, निर्मल वर्मा, अमरकांत आदि की गणना ऐसे कथाकारों में की जाती है। इस प्रगतिवादी जीवन दृष्टि ने ही कथा साहित्य के क्षेत्र में आंचलिक उपन्यासों की धारा को जन्म दिया। जिसके समर्थ रचियताओं के रूप में नागार्जुन, रेणु, भैरवप्रसाद गुप्त आदि के नाम उभरकर आते हैं।"

नागार्जुन ने अपने उपन्यासों में जीवन का विस्तृत चित्रण, वर्ग-संघर्ष, वर्ग-वैषम्य का चित्रण किया है। "नागार्जुन की यह परंपरा भैरवप्रसाद गुप्तजी अपने उपन्यास "गंगामैया" में पकडते हैं, जहाँ बलिया के संघर्षरत ग्रामीण सदियों के शोषण जाल को छिन्न-भिन्न करने के लिए आतुर दिखायी गये है। यह पूर्वी उत्तर प्रदेश की सिसकती मिट्टी का नया अख्यान है, जिसे गंगा के पुत्र प्रस्तुत करते हैं।

निष्कर्ष :-

नागार्जुन, रांगेय राघव तथा भैरवप्रसाद गुप्त के उपन्यास के नायकों में एक नया संस्करण दिखाई देता है। इनके नायक नपुंसक न होकर पौरूष का उदाहरण पेश करते हैं। इनके नायकों का पौरूषवान व्यक्तित्व लेखक की कल्पना की उपज अथवा उत्तरार्थ न होकर, आज के युग के उभरते हुअे मनुष्य का जीता जागता यथार्थ है। इस तरह की सजीव भूमिका का एक प्रधान कारण मानव प्रकृति से इन लेखकों का घनिष्ठ परिचय है। विविध वर्गों की सामाजिक भूमिकाओं का भी उन्हें पूरा ज्ञान है। इनके उपन्यासों में पात्र सजीव गतीशील लगते हैं। विविध मनोवृत्तियों, पेशोंवाले, विभिन्न वर्गों के पात्र पाठक के नेत्रों के सामने से गुजरते जाते हैं। इन पात्रों में से अनेक पात्र अपनी गहरी मानवीय

भूमिका के कारण पाठक के मर्म को छू लेते हैं। पात्र रोजमर्रा की जिन्दगी में हम देख सकते हैं। प्रगतिशील, पिछडे हुअे प्रगतिवादी भी पात्र हैं। वे कोरी कल्पना के बलपर गढे हुअे अथवा सामाजिक जीवन से कटे लेखक अपने बनाये हुअे पुतले नहीं, यथार्थ की सजीव रेखाओंसे चित्रित इसी समाज के सामान्य व्यक्ति हैं, उन्हें पहचानने के लिए पैनी दृष्टि की अवश्यकता नहीं। वे जिंदा आदमियों की भांति सहज ही हमें अपने चारों ओर मिल जाते हैं। उन्हें देखने के लिए और पाने के लिए उसे उस स्तर की संवेदना अवश्यक हे। इन सामान्य पात्रों के बल पर ही इन लेखकों ने अपने उपन्यासों को आज के समाज तथा युग-जीवन का प्रतिनिधि बनाया हे साथ ही आज के मनुष्य के सही और सच्चे चित्त से पाठकों को परिचित कराया है।"[36]

अपने कथा-शिल्प के प्रति भी ये उपन्यासकार सजग रहे है। युग के यथार्थ को प्रभावशाली ढंग से पाठकों तक पहुँचना इस उपन्यासकारों का प्रमुख उद्देश्य रहा है। इसलिए इन्होंने कथ्य का ढाँचा एवं कथा रूप का आकार सजीव बनाकर अपना लिया। इन उपन्यासों में समाज की गहरी समस्याओं,दार्शनिक उहापोहों, सामाजिक चिंतन तथा मनोवैज्ञानिक भूमिकाओं के बावजूद उनका सजीव कथानक तथा जीवंत चरित्रसृष्टि देखने को मिलती है। ग्रामांचलिक उपन्यासों में प्रगतिवाद के दर्शन होते हैं। भैरवजी के "गंगामैया", "सत्ती मैया का चौरा", "आग और आंसू" आदि इसके अच्छे उदाहरण लगते है।

प्रगतिवादी उपन्यासों की विकासयात्रा :-

युग परिवर्तन के साथ विचारधाराएँ, जीवनमूल्य, युगसत्य सभी कुछ बदलता हैं। युगीन चेतनाही हमेशा साहित्यिक विचारधारा का कारण बनी रही है और इस युग चेतना से उत्पन्न वैचारिक बदलाओं ने उपन्यास विधा को अनेक स्तरों पर एक दूसरे से व्यक्त किया है। साठोत्तरी कालखंड के उपन्यासों को प्रगतिवादी विचारधारा ने पल्लवित एवं पुष्पित बनाया इस कालखंड में लिखे गये हर उपन्यास में किसी-न-किसी प्रकार की प्रगतिवादी चेतना दिखायी देती है। समाजनीति, राजनीति, धर्मनीति आदि सभी आयामों में प्रगतिवादी विचारधारा स्पष्ट होती जा रही हैं, इतना ही नहीं स्त्री-पुरूष संबंध, सामाजिक रूढियां एवं परंपराओं में भी प्रगतिवादी चेतना लक्षित होती रही है। प्रगतिवादी चेतना से संपन्न उपन्यास जीवन और जगत में समाज और व्यक्ति की स्थिति को सुदृढ बनाने में, समाज और व्यक्ति के आर्थिक पक्ष को प्रबल करते हुअे समानता का नारा लगाते हैं। समाज में व्याप्त कुरीतियाँ, अनाचारों, अंधविश्वासों, झूठे रीति-रिवाजों, वर्ग-संघर्षों आदि विविध आयामों में आज के उपन्यास प्रगतिवादी चेतना को प्रवाहित कर रहे हैं। राजनीतिक, सामाजिक, आंचलिक आदि सभी स्तरों पर उपन्यास लेखकों का समाजवादी स्वर उभरा हैं।

उपन्यास साहित्य के क्षेत्र में प्रगतिवाद अपनी समस्त आधारों और मान्यताओं को लेकर उतरा। सामाजिक यथार्थ के आग्रह को लेकर वस्तुगत यथार्थ को ही समग्रता के साथ उभरने का प्रयत्न किया गया इस दिशा में प्रेमचंदजी के उपन्यास महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं - "प्रेमचंदजी हिन्दी के पहले कथाकार थे जिन्होंने उपन्यास को कोरे मन बहलाव तथा सतही नीतिवाद धरातल से ऊपर उठाकर एक सार्थक सोद्देश्य साहित्यविधा के रूप में प्रतिष्ठा दी।"[37] प्रेमचंदजी की यह परंपरा और भी पुष्ट रूप में आगे बढती रही। सन 1936 में "प्रगतिशील लेखक संघ" की स्थापना हुई। प्रेमचंदजी की प्रगतिवादी विरासत को संभालकर आगे बढाने की कोशिश अनेक उपन्यासकारों ने की। अनेक उपन्यासकारों ने सामाजिक यथार्थ का सशक्त चित्रण किया - "प्रगतिवादी चेतना से सीधी प्रेरणा लानेवालों में यशपाल, नागार्जुन, रांगेय राघव, राहुल सांकृत्यायन, अमृतराय तथा भैरवप्रसाद गुप्त के नाम प्रमुख हैं।"[38]

प्रगतिवादी जीवन दृष्टि ने तत्कालीन कतीपय अन्य उपन्यासकारों को भी सामाजिक यथार्थ की लीक पर आगे बढने की प्रेरणा दी। अमृतलाल नागर, उपेंद्रनाथ अश्क, विष्णु प्रभाकर, उदय शंकर भट्ट, वृंदावनलाल वर्मा, चंद्रकिरण सौनरेक्सा आदि उपन्यासकारों के नाम इस संदर्भ लिये जाते हैं।

नये युग में प्रगतिवादी चेतना ने नयी पीढी के अनेक उपन्यासकारों को स्वस्थ, सामाजिक, यथार्थ दृष्टि के आधार पर नयी उपलब्धियों की ओर प्रेरित किया। राजेंद्र यादव, कमलेश्वर, फणीश्वरनाथ "रेणु", मोहन राकेश, निर्मल वर्मा, अमरकांत, मार्कण्डेय, बदरीनाथ तिवारी, अजित पुष्कल आदि की गणना ऐसे उपन्यास लेखकों में की जा सकती है। इस प्रगतिवादी जीवन दृष्टि ने उपन्यास क्षेत्र में आंचलिक उपन्यास की धारा को जन्म दिया। आंचलिक उपन्यासों के समर्थ उपन्यासकार नागार्जुन, रेणु, भैरवप्रसाद गुप्त, शिवप्रसाद सिंह,राही मासूम रजा, जगदीशचंद्र, राजेंद्र अवस्थी, हिमांशु जोशी, श्रीलाल शुक्ल, विवेकी राय, श्रीचंद अग्नीहोत्री, मोहरसिंह यादव, रामदरश मिश्र, रांगेय राघव, मन्नू भंडारी आदि माने जाते हैं जिन्होंने ग्रामांचलिकता में प्रगतिवादी चेतना तलाशने का प्रयत्न किया है। इन उपन्यासों में दलित चेतना को प्रगतिवादी भावधारा की दृष्टि से चित्रांकित किया है। इसके सिवा आज प्रगतिवादी भावधारा मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक, व्यंगात्मक आदि सभी प्रकार के उपन्यास विभागों में देखने को मिलते हैं। प्रगतिवादी दृष्टिकोण आज सभी क्षेत्रों में विस्तार के साथ स्पष्ट होता आ रहा है। साठोत्तरी कालखंड की हर रचनाओं में किसी-न-किसी अर्थ में हर उपन्यास में प्रगत्तिवादी चेतना लक्षित होती है।

आँचलिक उपन्यासों की एक विधा पहाडी आंचलिक उपन्यासों में भी आज प्रगतिवादी दृष्टिकोण अत्यंत यथार्थ मात्रा में लक्षित होता जा रहा है। पहाडी आंचलिक उपन्यासों में -

राजेंद्र अवस्थी का - जंगल के फूल 1960

योगेंद्र सिन्हा का - वन के मन में 1962

शाम परमार का - मोरझाल और मादल का दर्द - 1963

हिमांशु श्रीवास्तव का - बुरूंश तो फुलते हैं 1965

शानी का - शालवनों का द्विप 1967

जयप्रकाश भारती का - कोहरे में खोये हुए चांदी के पहाड - 1968

सत्यप्रकाश पंडियजी का - चंद्रवदनी 1971

शिवशंकर का - मोंगरा 1970

भगवती प्रसाद मिश्र का - खारे जल का गाँव 1973

हिमांशु जोशी का - कगार की आग 1978

शिवप्रसाद सिंह का - शैलुष 1989 आदि।

इन उपन्यासों में प्रगतिसेकोसों दूर पहाडी आंचल में बसे जनजीवन का चित्रांकन करते हुअे प्रगतिवादी भावधारा को प्रवाहित किया है।

साठोत्तरी कालखंड में झोपडपट्टी उपन्यास साहित्य की भी एक धारा मराठी के झोपडपट्टी के उपन्यास के अनुकरण पर प्रवाहित हुई।

जगदंबा प्रसाद दीक्षित का - मुर्दाघर झोपडपट्टी जनजीवन पर आधारित हिन्दी का पहला उपन्यास माना जाता है। इसके साथ-साथ हिन्दी के अन्य उपन्यासों में भी झोपडपट्टी का यथार्थ रूप में चित्रण हुआ है इन उपन्यासों में प्रमुख हैं -

भीष्म साहनी का - बसंती

शुभंकार कपूर का - विष के चरण

रामदरश मिश्र का - अपने लोग

शैलेश मटियानी का - बंबई से बोरीबंदर तक। इन उपन्यासों में झोपडपट्टी जनजीवन का यथार्थ चित्रण कराया है।

हिन्दी में दलित जनजीवन का चित्रण करनेवाले उपन्यास, मराठी के दलित साहित्य के अनुकरण पर लिखे जाने लगे इसमें दलित चेतना को दिखाकर उपन्यास लेखकों ने प्रगतिवादी भावधारा के दर्शन करा दिये हैं। जगदीशचन्द्र का - धरती धन न अपना - 1972, हिन्दी का प्रथम दलित उपन्यास माना जाता हैं। हिन्दी के अन्य उपन्यासों में भी दलित जनजीवन का चित्रण प्रगतिवादी भावधारा के साथ किया गया है।

रामदरश मिश्र का - 'पानी के प्राचीर'

प्रभाकर माचवे का - 'जों'

शिवप्रसाद सिंह का - 'अलग-अलग वैतरणी'

अमृतलाल नागर का - 'नाच्यो बहुत गोपाल'

रामदरश मिश्र का - 'जल टूटता हुआ'

मन्नू भंडारी का - 'महाभोज'

मोहरसिंह यादव का - 'बंजर धरती'

श्रीचंद अग्निहोत्री का - 'नयी बिसात 'आदि उपन्यासों में दलित चेतना के माध्यम से प्रगतिवादी विचारधारा का चित्रण किया गया है। सन 1960 के उपरांत ग्रामांचलिक उपन्यासों की एक लहर उमड उठी। -

राही मासूम रझा का - 'आधा गाँव' - 1966

श्रीलाल शुक्ल का - 'अलग अलग वैतरणी' - 1968

जगदीशचंद्र का - 'धरती का धन न अपना' - 1972

जगदंबा प्रसाद दीक्षित का- 'मुर्दाघर' - 1974

गोविंद मिश्रजी का - 'लाल-पीली जमीन' - 1976

जगदीशचंद्रजी का - 'मुट्ठीभर काकर' - 1976

विवेकी राय का - 'लोकऋण' - 1977

मन्नू भंडारी का - 'महाभोज' - 1979

आदि उपन्यासों में ग्रामांचलिक यथार्थ का प्रगतिवादी दृष्टिकोण से चित्रण किया गया है। 'साठोत्तरी कालखंड में अस्तित्ववाद से प्रभावित उपन्यासों की एक धारा का प्रबल प्रवाह उपन्यास क्षेत्र में प्रवाहित हुआ।

डॉ. देवराज का - 'अजय की डायरी' - 1960

अज्ञेय का - 'अपने अपने अजनबी' - 1961

मोहन राकेश का - 'अंधेरे बंद कमरे' - 1961

प्रभाकर माचवे का - 'जों' - 1964

निर्मल वर्मा का - 'वे दिन' - 1964

रमेश बक्षी का - 'अठारह सूरज के पौधें' - 1965

लक्ष्मीकांत वर्मा का - 'एक कटी हुअी जिन्दगी-एक कटा हुआ कागज' - 1965

रमेश बक्षी का - "बैसाखियोंवाली ईमारत" - 1966

महेंद्र भल्ला का - "एक पती के नोटस" - 1967

मोहन राकेश का - "न आनेवाला कल" - 1968

निर्मल वर्मा का - "लाल टीन की छत" - 1974

ममता कालिया का - "नरक-दर-नरक" - 1975

सुदर्शन नारंग का - "अपने विरूध्द" - 1978

शैलेष मटियानी का - "आकाश कितना अनंत है " - 1979

आदि उपन्यास और उपन्यासकार इस दिशा में महत्व रखते हैं जिन्होंने अस्तित्ववाद में भी प्रगतिवादी भावधारा को दिखाने का प्रयास किय।"[39]

निष्कर्ष :-

प्रगतिवादी उपन्यासों की विकासयात्रा पर दृष्टिक्षेप करने पर यह पता चलता है कि प्रगतिवादी उपन्यासों में सिध्दांतारोपण की प्रवृत्ति क्रमशः अब क्षीण होती जा रही है। यथार्थवादी जीवन का अंकन उत्तरोत्तर स्वाभाविक एवं कलात्मक होता जा रहा है। सार्वजनीक यथार्थ को उसकी समग्रता में निरूपित करने में सक्षम प्रगतिवादी उपन्यासकार जीवन की जटीलतम गुत्थियों का उद्‌घाटन भी अपनी रचनाओं में सफलता के साथ कर चुके हैं। यशपाल, अमृतराय, भैरवप्रसाद गुप्त, नागार्जुन, राजेंद्र यादव आदि के कतिपय उपन्यासों का विवेचन इसी दृष्टि से महत्वपूर्ण है। ऐसे उपन्यासों में महाकाव्यात्मक गुत्थियों का निरूपण कलात्मक रूप में किया गया है।

सन 1960 के बाद उपन्यास विधा के सभी अंगों में प्रगतिवादी चेतना का प्रवेश लक्षित होता है। इस कालखंड में अब प्रगतिवादी चेतना ने समावेशक स्वरूप धारण किया हुआ लक्षित होता है।

प्रगतिवाद के आधारभूत सिध्दांत :-

प्रगतिवादी साहित्य की मूल धारा कार्ल मार्क्स की विचारधारा है। सुविधा की दृष्टि से इस धारा को तीन भागों में बाटा जा सकता हैं।

1) द्वंद्वात्मक भौतिक विकासवाद।

2) मूल्यवृध्दि का सिध्दांत।

3) मुल सभ्यता के विकास की यात्रा।

1) **द्वंद्वात्मक भौतिक विकासवाद :-** मार्क्स के मतानुसार जगत की उत्पत्ति तथा उसका विकास भौतिक शक्तियों के द्वंद्व से होता है। दो शक्तियों के संघर्ष से तीसरी शक्ति का उत्पन्न होता है और यह क्रम

दिन-ब-दिन विकसित होता जाता है। मार्क्स सृष्टि की उत्पत्ति के पीछे अध्यात्मिक शक्तियों का अस्वीकार करते हैं। वे सृष्टि की उत्पत्ति नहीं उसका उत्तरोत्तर विकास हुआ ऐसा मानते हैं। मार्क्स आत्मा परमात्मा, स्वर्ग-नरक, मृत्यु आदि को नहीं मानते वे द्वंद्वात्मक भौतिक विकासवाद को महत्व देते हैं।

2) **मूल्य वृध्दि का सिध्दांत :-** मार्क्स किसी वस्तु के वृध्दि के मूल पदार्थ, स्थूल साधन, श्रमिक का श्रम और मूल्य वृध्दि मानते हैं। इस प्रक्रिया में पूंजीपति द्वारा मूल पदार्थ और मशिने जुटाई जाती हैं। सामाजिक अवश्यकता के नुसार श्रमिक वर्ग का उत्पादन करता है। वस्तु उत्पादन कार्य में बलिदान तो होता ही नहीं है परंतु पूंजीपति श्रमिक के श्रम और उसके स्वास्थ्य का ध्यान नहीं रखते केवल खुद का लाभ देखकर तिजोरियाँ भरने का काम करते हैं। लाभ की दशा में श्रमिक और पूंजीपति में बटवारा न होने के कारण शोषण बढता है। आज 20 वीं सदी के अंतिम दशक में मानवता का यह शोषण एक महान अभिशाप बन बैठा है। मार्क्स के अनुसार किसान और मजदूर शोषित हैं, मालिक और जमींदार शोषक हैं। शोषण की इस समस्या को प्रगतिवादी उपन्यासों में पूर्ण स्थान दिया गया है।

3) **अर्थव्यवस्था नुसार विश्वसभ्यता की व्याख्या :-** मार्क्स ने विश्वमानवता को दो भागों में खंडित किया है - 1) शोषक वर्ग, 2) शोषित वर्ग -

वर्ण, जाति, धर्म, देश एवं सम्प्रदाय से उत्पन्न भेद मार्क्स को अमान्य हैं। उन्होंने विश्वमानवता के इतिहास को चार युगों में बाटा है।

1) दास प्रथा का युग :- उदा. श्रमिक द्वारा निर्मित वस्तुओं पर मालिक का एक मात्र अधिकार और श्रमिक दास।

2) सामंति प्रथा का युग :- इसमें श्रमिकों को व्यक्तिगत बातों में स्वतंत्रता मिलती है किन्तु बाकी सबकुछ उसके हाथ में नहीं रहता।

3) पूंजीवादी व्यवस्था का युग :- इसमें मजदूर के व्यक्तित्व और उसके श्रम पर उसका अधिकार तो रहता है किन्तु उत्पादन और लाभ पर पुंजीपति का ही अधिकार बना रहता है।

4) साम्यवादी व्यवस्था का युग :- इसमें मजदूरों द्वारा उत्पादित वस्तुओं पर नियंत्रण तो जरूर होता होगा पंरतु प्रत्येक व्यक्ति को उसके श्रमानुरूप फल मिलेगा। कार्ल मार्क्स साम्यवादी व्यवस्था की प्रतिष्ठापना करना चाहते थे इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने हिंसात्मक क्रांतिमय उपायों का समर्थन किया है। साम्यवाद का अर्थ समाज में आर्थिक स्तर पर समानता लाना है और इस समानता की सिध्दी के लिए शोषित वर्ग को पूंजीपति शोषक के विरूध्द उत्तेजित करता है। स्पष्ट है कि साम्यवादी या प्रगतिवादी साहित्यिक विचारधारा का उद्देश्य शोषितों को शोषकों के खिलाफ भडकाना है।

साम्यवाद का केंद्रबिन्दु श्रमिक माना जाता है। साठोत्तरी कालखंड में पूंजीपति और श्रमिक के बीच अनेक उपन्यासकारों ने संघर्ष चित्रांकित किया है। पूंजीपति थोड समय में अधिक लाभ की आशा से ठेकेदारी प्रथा चलाते हैं जो प्रथा मजदूर के जीवन और स्वास्थ्य पर बुरा असर डालती है। उद्योगपति अपने फायदे के लिए श्रमिकों के लिए नाना सब्जबाग दिखाते हैं जिससे श्रमिक अपने परिवार और समाज से अलग होकर कल कारखानों की तरफ दौडता है और महानगरीय वातावरण में अकेलापन महसूस करता है। इससे श्रमिक के चरित्र और मनोरंजन के लिए अनेक समस्याएँ निर्माण होती है। साम्यवाद के अनुसार - "व्यक्ति समाज का अंग है और समाज के लिए उसकी सत्ता है। जब तक वह समस्त समाज के विकास और वृध्दि में उपयोगी है तब तक ही उसका मूल्य है अत: संपत्ति का विभाजन व्यक्ति परक न होकर व्यक्ति के सामाजिक उपयोगिता के आधार पर होना चाहिए। किसी व्यक्ति का मूल्य इतना अधिक नहीं होना चाहिए कि उसके चुकाने में दूसरे किसी व्यक्ति को कष्ट हो, साम्यवादी व्यवस्था का यही मूल तत्व है।"[40]

निष्कर्ष :-

भैरवप्रसाद गुप्तजी उपन्यासों में प्रगतिवाद के ये आधारभूत सिध्दांत कम-अधिक मात्रा में हमें देखने को मिलते हैं। वे मालिकों और जमींदारों को शोषक तथा किसानों एवं मजदूरों को शोषित मानकर शोषण की इस समस्या का प्रगतिवादी दृष्टि से हल करना चाहते हैं। वे वर्ग-संघर्ष से अचेत पडे हुअे मजदूर-किसारों में चेतना भरना चाहते हैं। लाभ का समान बंटवारा करने के वे पक्षधर लगते हैं। वे दास प्रथा को मिटाकर पूंजीवादी व्यवस्था को तथा सामंतशाही की बेडियों को काटना चाहते हैं। वे साम्यवाद के पक्षधर होने के नाते प्रगतिवादी दृष्टि से दुर्बलों को सबल बनाना चाहते हैं इसलिए संगठन शक्ति का निर्माण करके सामंतवादी पूंजीवादी व्यवस्था से टकराना चाहते हैं। उनके आलोच्य उपन्यासों में प्रगतिवाद के उपर्युक्त सभी आधारभूत सिध्दांत समाकलित हो पाये हैं।

प्रगतिवाद की प्रमुख प्रवृत्तियाँ :-

राजनीतिक क्षेत्र में जो साम्यवाद है, सामाजिक क्षेत्र में जो समाजवाद है, दर्शन के क्षेत्र में जो द्वंद्वात्मक भौतिकवाद है, साहित्य के क्षेत्र में वही प्रगतिवाद कहलाया जाता है। "भैरवप्रसाद गुप्तजी के उपन्यासों में प्रगतिवादी चेतना" पर सोचते समय प्रगतिवाद की प्रमुख प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालना अनिवार्य है।

प्रगतिवाद की प्रमुख प्रवृत्तियाँ :-

1) **रूढि विरोध :-** प्रगतिवादी लेखक परंपरागत चली आयी सामाजिक रूढि परंपराओं का विरोध करते हैं। प्रगतिवादी लेखक संसार को ईश्वर निर्मित न मानकर मानव निर्मित मानते हैं। वे ईश्वर की

सत्ता, स्वर्ग, धर्म, पाप-पुण्य, भाग्यवाद आदि का इन्कार करते हैं। जातीय भेदाभेद, ऊँच-नीच का भाव उन्हें अमान्य है। मंदिर-मस्जिद का कोई महत्व उनके लिए नहीं होता है। अंधविश्वास, रूढ़ि-परंपरा, अन्याय-अत्याचार का वे प्रखर विरोध करते हैं। भगवती चरण वर्मा का "चित्रलेखा", भैरवप्रसाद गुप्तजी का "गंगामैया", यशपाल का "अठारह घण्टे" इस दिशा में महत्वपूर्ण उपन्यास माने जा सकते हैं।

2) **शोषितों का करूण गान** :- पीडित, शोषित, मजदूर-किसान आदि का कारूण्यपूर्ण चित्रांकन प्रगतिवादी लेखकों ने किया है। शोषित - पीडित लोग मानवजाति का एक अभिशाप माने जाते हैं। उनका सहानुभूतिपूर्ण चित्रण प्रगतिवादी लेखकों ने किया है। प्रेमचंदजी का "गोदान" शिवप्रसाद सिंह का "अलग-अलग वैतरणी", भैरवप्रसाद गुप्त का "मशाल", "गंगामैया", "आग और आंसू", जगदीशचन्द्र का "धरती धन न अपना", हिमांशु जोशी का "कगार की आग" आदि उपन्यास इस कोटि में आते हैं।

3) **शोषकों के प्रति घृणा और रोष** :- जमींदार, महाजन, सेठ-साहुकार, व्यापारी, उद्योगपति शोषकों के प्रतिनिधित्व करते हैं तो मजदूर, किसान, कुली, शोषितों के प्रतिनिधित्व करते हैं। प्राचीन काल से शोषक वर्ग के प्रतिनिधि गरीब, पीडित, मजदूर, किसानों का शोषण करते आ रहे हैं। पूंजीपति किसान मजदूरों को अपनी मिल्कियत समझकर उनका शोषण करते है। भैरवप्रसाद गुप्त का "गंगामैया", "मशाल", "आग और आंसू" इसके अच्छे उदाहरण है। अमृतलाल नागर, भगवती चरण वर्मा, रांगेय राघव, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, प्रभाकर माचवे आदि लेखकों ने पूंजीवादी प्रवृत्ति की कटू आलोचना की है। "महाकाल", "बूंद और समुद्र", "विषादमठ", "घरौंदे", "आखिरी दाँव", "परंतु", "साँचा" आदि उपन्यास इस कोटि में आते हैं। सन 1960 के पश्चात औद्योगिक क्षेत्र के विकास के साथ-साथ शोषण बढने लगा। इसका चित्रण विश्वंभरनाथ उपाध्याय के "पक्षाघर" 1971, सतीश जमाली के "प्रतिबध्द" 1974, मधुकर सिंह का "सबसे बडा छल" 1976, जगदीशचन्द्र का "मुट्ठीभर कांकर" 1976, आशिष सिन्हा का "समय बीतता हुआ" 1978, गिरिराज किशोर का "इंद्र सुने" 1980, "छटा तंत्र" और "नंगा शहर" इसके अच्छे उदाहरण हो सकते हैं।

4) **क्रांति की भावना** :- प्रगतिवाद के लेखकों के पात्र परंपरा, रूढि का विरोध करते हैं और समाज में परिवर्तन लाने के लिए अपने आप में क्रांति की भावना रखते है। जिस चीज का अधिकार उन्हें नही मिलता उसे वे क्रांति करके छिन लेते हैं। भैरवप्रसादजी का "गंगामैया", "नौजवान", विश्वंभर उपाध्याय का "पक्षाघर", काशिनाथ सिंह का "अपना मोर्चा", सुदर्शन मजिलिया का "उखडी हुअी आंधी", रामदरश मिश्र का "पानी के प्राचीर" आदि उपन्यासों में इस प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं।

5) **मार्क्स तथा रूस का गुणगान** :- साम्यवाद के प्रवर्तक रूस तथा कार्ल मार्क्स का गुणगान प्रगतिवादी लेखकों ने किया है। उनकी विचारधारा को उन्होंने अपने साहित्य में स्थान दिया है। यशपाल,

भैरवप्रसाद गुप्त, नागार्जुन आदि के उपन्यासों में मार्क्स तथा रूस का गुणगान लक्षित होता है। भैरवजी के "आग और आंसू" "मशाल", "सती मैया का चौरा", "नौजवान" आदि उपन्यासों में यह प्रवृत्ति उभर उठी है।

6) **मानवतावाद :-** प्रगतिवादी लेखकों का दृष्टिकोण अत्यंत विशाल है। भिखमंगे, किसान, मजदूर, पीडित लोग, वेश्याओं, विधवाओं, परित्यक्ता नारियों के संबंध में प्रगतिवादी साहित्य मे सहानुभूति के साथ चित्रण आया है। इन सबके प्रति जो अन्याय, अत्याचार होते आ रहे हैं इसका विरोध करके इनके प्रति दिल में सहानुभूति की भावना रखकर, प्रगतिवादी लोग मानवतावादी बन जाते हैं।

जगदंबाप्रसाद दीक्षित का "मुरदाघर", जगदीशचन्द्र का "धरती धन न अपना", हिमांशु जोशी का "कगार की आग" , भैरवप्रसाद गुप्तजी के "गंगामैया", "आग और आंसू", "मशाल" आदि इसी कोटि के उपन्यास हैं।

7) **वेदना निराशा :-** यह प्रगतिवाद की मुख्य प्रवृत्ति है। प्रगतिवाद में वेदना के वैयक्तिक और सामाजिक दोनों रूप देखने को मिलते हैं। प्रगतिवादी लेखकों के पात्र वेदना, संकटों का सामना करते हैं वे निराश नहीं होते। सामाजिक वैषम्य दूर करने के लिए ये पात्र हमेशा क्रियान्वित रहते हैं। प्रगतिवादी जातिभेद, वर्गभेद, शोषण, रूढियों का नामोनिशान मिटाने की चेष्टा करते हैं। "गंगामैया", "सती मैया का चौरा", "मशाल", "आग और आंसू", "अलग-अलग वैतरणी", "पानी के प्राचीर", "जल टूटता हुआ" "कगार की आग", "धरती धन न अपना", "बंजर धरती" इसके अच्छे उदाहरण हैं।

8) **नारी जीवन :-** प्राचीन काल से नारी का उपयोग एक उपकरण की तरह किया गया है। पुरूष की वासना एवं पुरूष की दासता में घिरी नारी की स्वतंत्रता पर प्रगतिवादी लेखकों ने गहरा विचार किया है। शृंगार की अपेक्षा प्रेम का चित्रण नारी पात्रों में किया गया है। प्रगतिवादी लेखकों ने नारियों का समाज में अलग स्थान निर्माण करने की चेष्टा की है। अमृतलाल नागर का - "नाच्यों बहुत गोपाल", रांगेय राघव का "आखिरी आवाज" रेणु का "दीर्घतपा", शिवानी का "चौदह फेरें", भैरवप्रसाद गुप्त के "धरती", "नौजवान", "रंभा", "आग और आंसू" आदि उपन्यासों में नारी के प्रति सहानुभूति दर्शाकर नारी में चेतना जागृति का काम किया है।

9) **सामाजिक जीवन का यथार्थ चित्रण :-** प्रगतिवादी साहित्य में निम्नवर्ग को ज्यादा महत्व दिया गया है। पूंजीपति, जमींदार, शोषक वर्ग का यथार्थ चित्रण प्रगतिवादी साहित्य की विशेषता है। समाज के कटुसत्य, अनाचार, भुखा, विलास, पीडितों का हाहाःकार आदि का सच्चा और वास्तविक चित्र खींचकर प्रगतिवादी साहित्य निर्मित हुआ। "जंगल के फूल," "पहला पडाव," "मैला आंचल," "अलग-अलग वैतरणी," "कभी न छोडे खेत" "जल टूटता हुआ," "मशाल," "गंगामैया," "सती मैया का चौरा," "आग और आंसू," "धरती," "कालिंदी"

SHIVAJI UNIVERSITY LIBRARY KOLHAPUR

आदि उपन्यासों में सामाजिक जीवन के यथार्थ को चित्रांकित किया गया है।

10) **सामाजिक समस्याओं का चित्रण** :- प्रगतिवादी लेखक सामयिक समस्याओं का चित्रण करने में अत्यंत सहज रहते हैं। विश्वमानवता और संस्कृति, एकता के बनाये रखने के लिए ये आवश्यक भी है। हिन्दुस्तान-पाकिस्तान विभाजन, कश्मीर समस्या, बंगाल का अकाल, महँगाई, दरिद्रता, बेकारी, चरित्र हीनता, विधवा समस्या, आदि और ऐसे कई सामयिक समस्याएँ हैं जिस पर प्रगतिवादी लेखकों ने अपने क्रांतिकारी विचार प्रकट किये हैं।

साम्प्रदायिकता :- "सती मैया का चौरा," "तमस," "खबर," "आधा गांव," और "इन्सान मर गया," "पेशावर एक्सप्रेस," "कितने दोस्त कितने दुश्मन" आदि तो बेकारी पर - अमरकांत का "ग्रामसेविका"।962, भगवती चरण वर्मा का "थके पाँव" ।963, अमृतलाल का "अमृत और विष" ।966, रामदरश मिश्र का "जल टूटता हुआ" ।969, ममता कालीया का - "नरक-दर-नरक" ।975 में बेकारी पर गहराई से सोचा है।

विधवा समस्या :- भैरवप्रसाद गुप्तजी का "गंगामैया", नागार्जुन का "कुंभीपाक", भगवती चरण वर्मा का "सामर्थ और सीमा", यादवेंद्र शर्मा "चंद्र" का "एक कला दो रंग", मोहन राकेश का "अंतराल", राजेंद्र शर्मा का "जनम जनम का विश्वास", कमलेश्वर का "डाकबंगला", शिवानी का "रतिविलाप" आदि उपन्यासों में विधवा समस्या को उठाया गया है।

निष्कर्ष :-

भैरवप्रसाद गुप्तजी के आलोच्य उपन्यासों में प्रगतिवाद की उपर्युक्त सारी प्रवृत्तियाँ कमी मात्राओं में लक्षित होती है। उनके उपन्यासों में रूढिविरोध, शोषितों का करूण गान, शोषकों के प्रति घृणा, क्रांति की भावना, मार्क्स तथा रूस का गुणगान, मानवतावाद, नारी चित्रण, सामाजिक जीवन का यथार्थ चित्रण सामाजिक समस्याओं का चित्रण आदि कमी प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं।

इन प्रवृत्तियों पर मार्क्सवाद के सिध्दांतों का प्रभाव देखने को मिलता है।

प्रगतिवादी साहित्य ने छायावादी निराशा, पीडा, काल्पनिकता, अंर्तमन की रहस्यमयी भावना को समाप्त करके समाज को एक नई दिशा प्रदान कर दी जिससे स्वतंत्रता आंदोलन की चेतना को समर्थन मिल सका। इस साहित्य ने अंर्तराष्ट्रीय भावना को जन्म दिया तथा शोषित मानव के प्रति चिंतन के क्षण उभरे। स्वतंत्र एवं पीडित जन-समूह के लिए आशा तथा जीवन प्रदान किया। साम्राज्यवाद, पूंजीवाद तथा सामंतवाद के खिलाफ चुनौती रखी।

प्रगतिवाद ने राष्ट्रीय भावना को व्यापक और अधिक विकसित किया जो केवल आदर्शमूलक नहीं बल्कि कठोर श्रम की साधना के लिए आव्हान बना। राष्ट्रीय भावना में मंगलमयी भविष्य को साकार करने का प्रयास किया गया। प्रगतिवाद जन जीवन में सौन्दर्य की गवेशणा करने

लगा। संघर्ष या यातनाओं के मध्य में जुझता रहा। प्रगतिवाद ने साहित्य की सर्जना को सोद्देश्य स्वीकार किया। वह सामाजिक यथार्थ का चित्रण करने का पक्षधर रहा। सामाजिक यथार्थ का बोध प्रस्तुत करने लगा।

गद्य साहित्य के अंतर्गत प्रगतिवादी साहित्यकारों ने नये आयाम स्थापित किये। कथा साहित्य में प्रेमचंदजी ने समसामायिकता का तीखा बोध प्रदान किया। रांगेय राघव, अश्क, नागार्जुन, भैरवप्रसाद गुप्त, राजेंद्र यादव आदि उपन्यासकारों ने पूंजीवादी व्यवस्था तथा शोषित समाज को सही चित्रण प्रस्तुत कर प्रगतिवादी गद्य साहित्य को समृध्द बनाया।

उपर्युक्त प्रगतिवाद के विविध आयामों को देखने के बाद यह स्पष्ट होता है कि प्रगतिवाद के इनसतावनवर्षों के इतिहास ने हमें पता चलता है कि प्रगतिवादी साहित्य में अब स्वस्थ सामाजिकता, व्यापक भावभूमि और उच्च विचार का निरंतर विकास होता जा रहा है। प्रगतिवाद राजनीतिक जागरण से आरंभ होकर समाज की व्यापक समस्याओं की ओर आदर्शवाद से आरंभ होकर क्रमशः यथार्थवाद की ओर और यथार्थवाद अथवा अति यथार्थवाद की ओर अग्रसर होता जा रहा है।

लगता है कि प्रगतिशील साहित्य में कोई स्थिर मतवाद नही है बल्कि यह निरंतर विकासशील साहित्यधारा है। प्रगतिशील साहित्य लेखक की स्वयंभू अंतःप्रेरणा से उद्‌भूत नहीं होता बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक विकास के क्रम से वह परिवर्तित और विकसित होता रहता है और उसके सिध्दांत उत्तरोत्तर अधिक स्पष्ट तथा अधिक पूर्ण बनते रहते हैं।

प्रगतिवाद का आरंभ साहित्य में आर्थिक और राजनीतिक आंदोलन के फलस्वरूप हुआ। हिन्दुस्तान की आजादी उस समय लेखकों की प्रमुख समस्या थी। इसके साथ ही वे किसानों-मजदूरों की सुख-सुविधा के लिए चिंतित थे। राजनीतिक जागरण इन लेखकों का प्रधान उद्‌देश्य रहा। जनतांत्रिक परिस्थिति के आने पर साहित्य और राजनीति में सामान्य लोगों का प्रवेश पहली बार हुआ जिससे साहित्य में परिवर्तन आया। किसान-मजदूरों के लिए साहित्य का सृजन होने लगा। मानवतावाद में अधिकारों की मांग का नया मोड आया। सहानुभूति अधिकारों में परिवर्तित हुअी।

बंगाल का काल, द्वितीय महायुध्द से उत्पन्न संकट, नौ-सेना विद्रोह, हिन्दुस्तान-पाकिस्तान बंटवारा, हिन्दु-मुस्लिम संम्प्रदायिकता, दंगों के फलस्वरूप भयंकर खुन-खच्चर, देश से अंग्रेजों की राजनीतिक सत्ता का हटना, कांग्रेस के हाथों में शासनसत्ता का आना आदि महत्वपूर्ण घटनाएँ घटी। इन घटनाओं में हमारी आर्थिक, सामाजिक, नैतिक स्थितियों को प्रभावित किया। निम्न-मध्यवर्ग की स्थिति पहले से अधिक खराब हुअी। किसान-मजदूरों में भयंकर असंतोष फैला। सन 1935-36 में प्रगतिशील लेखक उत्साह और आशा लेकर चले थे, उसमें इस मोहभंग के फलस्वरूप काफी कटूता

उत्पन्न हुअी। परिस्थिति की इस मार से अनेक लेखक पथ से विचलित हुअे फिर भी कुछ लेखक ऐसे अवश्य थे जिन्होंने इस घटनाओं का साहस के साथ मुकाबला किया। उन्होंने इस पर अपनी तत्कालिक साहित्यिक प्रतिक्रिया व्यक्त की। इस राजनैतिक रचनाओं में से बहुत सी तो केवल सामायिक मांग को पूरा करनेवाली थी, लेकिन अकाल और दंगों पर कुछ अत्यंत मार्मिक रचनाएँ भी लिखी गयी। इस हालत में प्रगतिवादी लेखकों ने साहसपूर्वक आगे बढकर जनता का ढाढस बंधाया। और उन्हें सहानुभूति दी। "हंस" तथा "नया साहित्य" जैसी मासिक पत्रिकाओं ने इस युग में प्रगतिशील साहित्य की रचना और प्रचार में महत्वपूर्ण योगदान निभाया। इन पत्रिकाओं तथा अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के प्रयत्न से हिन्दी के प्रगतिशील लेखक उर्दु, बंगला, गुजराती, मराठी, पंजाबी, तेलगु, मलयालम आदि के साहित्यिक प्रगतिशील लेखकों के संपर्क में आये और इस तरह परस्पर सहयोग से उन्होंने पर्याप्त शक्ति संपादन की। भक्ति-अंदोलन के बाद फिर उस तरह का अखिल भारतीय साहित्य संगम प्रगतिवाद के ही युग में संभव हो सका। जनता के इस विराट ऐक्य ने भाषाओं के साहित्य की तरह हिन्दी साहित्य को भी बहुत बडी शक्ति प्रदान कर दी।

प्रगतिशील साहित्य की विशाल सामाजिक भावनाने साहित्य की नयी पीढी को जन्म दिया। सन 1920 और 1935 की दो पीढियाँ प्रगतिशील साहित्य की रचना कर चुकी थी और वे दोनों ही प्रगतिवाद के पूर्ववर्ती संस्कारों से ग्रस्त थी। अब प्रगतिवाद के लिए अवसर था कि अपने संस्कारों से साहित्यकारों की नई पीढि पैदा करे और निःसंदेह उसने यह कार्य बडी सफलता से संपन्न किया।

इस जागरण के फलस्वरूप बोलियों में रचना करनेवाले लोक-कवि के रूप में बलभद्र दीक्षित, बंशीधर शुक्ल, मुकुल, अशांत नंदन आदि कवि उभर उठे जिन्होंने इस तरह सांस्कृतिक पुर्नजागरण किया।

बीसवी सदी के राष्ट्रीय जागरण ने मध्यवर्ग के नवशिक्षित युवकों में से अनेक कवि और साहित्यिक पैदा किये। इर तरह पैंतीस के प्रगतिशील अंदोलन की सबसे बडी उपलब्धि यह है कि उसने मुख्यतः किसानों-मजदूरों और कुछ निम्न-मध्यवर्ग के पढे-लिखे युवकों में नवीन भावनाओंवाले कवि तथा लेखक निकले। राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, अश्क, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, शिवमंगलसिंह "सुमन", रामविलास शर्मा, रामवृक्ष बेनीपुरी, भगवतीप्रसाद मिश्र, त्रिलोचन, रांगेय राघव, चंद्रकिरण, सौनरेक्सा, अमृत राय, तेज बहादूर चौधरी, भीष्म साहनी, भैरवप्रसाद गुप्त, राजेंद्र यादव, रामदरश मिश्र आदि के नाम इसमें उल्लेखनीय हैं। प्रगतिशील आंदोलनने ही उन्हें लेखक और कवि बनाया।

प्रगतिशील साहित्य की अपनी विशेषताएँ हैं जो अन्य आदर्शवादी, व्यक्तिवादी तथा प्रकृतिवादी साहित्यिक प्रवृत्तियों से इसे अलग करती है।

प्रगतिवाद के सामाजिक यथार्थवादी दृष्टिकोण के कारण भारतीय किसान जीवन में अनेक प्रकार के परिवर्तन हुअे। उनके शोषण के तरीकें बदल गये। शोषकों में भी परिवर्तन हुअे। किसानों में असंतोष की वृध्दि हुअी। इस परिवर्तित और जटील वास्तविकता को नागार्जुन के "बलचनमा", "नई पौध", "बाबा बटेसरनाथ" और भैरवप्रसाद गुप्तजी के "गंगामैया" आदि उपन्यासों में चित्रांकित किया है। नागार्जुन ने एक और "मिथिला" के संघर्षरत किसानों को मूर्तिमान किया है तो भैरवजी ने प्रगतिवाद के सैध्दांतिक और व्यावहारिक पक्ष द्वारा साहित्य को बदलने और विकसित करने में योगदान दिया हुआ लक्षित होता है।

प्रगतिवादी लेखकों ने जनता को संघर्षरत बनाकर, इस संघर्ष में उन्हें विजयी घोषित करके उनकी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त बनाया है।

आज हिन्दी साहित्य में जितने भी वाद जन्म लेते रहे हैं वे सभी प्रगतिवाद के किसी-न-किसी पक्ष से संबंध रखते हैं। आज प्रगतिवाद के नये हस्ताक्षर जन्म ले रहे हैं और मानवता के प्रति अधिक सजग दिखायी दे रहे हैं।

प्रगतिवाद ने आधुनिक युग के हर कवि-लेखक को प्रभावित किया, इस धारा से कोई अछूता नहीं रहा परंतु किसी पर उसके कम छींटे पडे तो किसी पर अधिक। कुछ उसमें पूरी तरह भीग गये और नये रूप में सामने आये। कुछ कालांतर में भिन्न दिशागामी बने।

सन 1936 से प्रारंभ होकर प्रगतिवाद अपनी अबतक की विकास यात्रा में अनेक मंजीले लांघ चुका है। उसने साहित्य की सभी विधाओं का समान रूप से स्पर्श करते हुअे लेखकों की नयी पीढी को भी जन्म दिया है। युगानुरूप उसकी आकृति में भी परिवर्तन हुअे हैं। प्रगतिवाद नये-नये रूपों में सामने आता रहा हैं। उदा. झोपडपट्टी साहित्य, दलित साहित्य, अस्तित्ववादी साहित्य, ग्रामीण साहित्य, पहाडी आंचलिक साहित्य इत्यादि में प्रगतिवाद ने नये-नये रूप धारण कर लिये हैं।

बीच में कई नयी दृष्टियाँ भी उभर कर सामने आयी परंतु उनके साथ-साथ प्रगतिवाद का अपना अभियान भी चलता रहा। आज मनोवैज्ञानिकता, यौनाचार, स्त्री-पुरूष संबंध आदि में भी प्रगतिवादी चेतना के दर्शन होने लगे हैं। स्पष्ट है कि प्रगतिवादी लेखकों ने जनवादी आधारों को लेकर अपने विचारों को अधिक निखरे हुअे रूप में हिन्दी साहित्य को साहित्यिक रंगमंच पर उपस्थित किया। सच्चाई यह है कि प्रगतिवादी विचारधारा प्रगतिशील आकांक्षाओं से ओतप्रोत होकर आज भी हमारे साहित्य को नयी और स्वस्थ दिशाओं की ओर ले जा रही हैं। आज प्रगतिवादी चेतना युग की अनिवार्यता बनकर हिन्दी साहित्य विधाओं में अविर्भूत हुई है।

उन साहित्यकारों ने आज प्रगतिवाद को इतना विस्तृत और व्यापक बनाया है कि साहित्य की सभी विधाओं में वह किसी-न-किसी रूप में व्याप्त हो चुका है।

संदर्भ :-

1. हिन्दी विश्वकोश खण्ड चौथा, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी - पृ. 282
2. रामविलास शर्मा, मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं.1984- पृ.27
3. वही, पृ. 27
4. संपा. डॉ.धीरेंद्र वर्मा, कु.प्रीती अगरवाल, हिन्दी साहित्यकोश - पृ. 289
5. डॉ. अमरसिंह जगराम लोधा, प्रेमचंदोत्तर हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक चेतना, अमर प्रकाशन, अहमदाबाद, प्र.सं. 1982, पृ. 1
6. उमेश शास्त्री, हिन्दी साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ, देवनागर प्रकाशन, जयपुर, प्र.सं.1979,पृ.20
7. वही, पृ. 20
8. वही, पृ. 20
9. वही, पृ. 20
10. ए मिले बर्न्स, व्हॉट इज मार्क्सिजम, पृ. 1-2
11. मोरिस कोनकिर्थ - डायलेक्टिकल मटारेआलिजम, पृ. 15
12. संपा. नामवर सिंह, आलोचना, जनवरी-मार्च 1989, अंक 88, वर्ष 37, पृ.92
13. उमेश शास्त्री, हिन्दी साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ, देवनागर प्रकाशन, जयपुर, प्र.सं.1979, पृ.21
14. वही, पृ. 21
15. वही, पृ. 21-22
16. वही, पृ. 22
17. वही, पृ. 22
18. वही, पृ. 22
19. पूरनचंद जोशी, परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ.241
20. नामवर सिंह, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, चतुर्थ सं. 1968, पृ. 82-83
21. वही, पृ. 84
22. वही, पृ. 84
23. वही, पृ. 84
24. वही, पृ. 84
25. वही, पृ.82

26. नामवर सिंह, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, चतुर्थ सं. 1968, पृ. 82

27. वही, पृ. 82

28. वही, पृ. 82

29. डॉ.शिवकुमार शर्मा, हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ, अशोक प्रकाशन, दिल्ली,प्र.सं.1966, पृ.506

30. शिवकुमार मिश्र, प्रगतिवाद, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 1966, पृ. 23 (विषय प्रवेश)

31. वही, पृ. 24

32. शिवकुमार मिश्र, राजकमल, प्रगतिवाद, प्र.सं. 1966, पृ. 103

33. शिवकुमार मिश्र, प्रगतिवाद, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं.1966, पृ.104-105

34. वही, पृ. 108

35. वही, पृ. 73

36. वही, पृ. 97

37. वही, पृ. 71

38. वही, पृ. 73

39. संपा.डॉ. चंदुलाल दुबे, के.सी. सारंगमठ, "भारतवाणी" अंक - 6 वा "अस्तित्ववाद से प्रभावित हिन्दी उपन्यास" (1960-1980) डॉ. वाय.बी. धुमाल, हिन्दी विभागाध्यक्ष, वेणूताई चव्हाण कॉलेज, कराड, पृ. 3,14 से

40. डॉ. शिवकुमार शर्मा, हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं.1966, पृ. 508

0000